ISSN 2349-3887

दोआबा

समय से संगत

मैंने देखा, पैरों से लाचार एक ज़ईफ़
मेरे घर के सामने वाले पहाड़
की सबसे ऊंची चोटी पर
चढ़ने की कोशिश कर रहा है
उसके दोनों हाथ पीछे बंधे हुए हैं
फिर भी वो
हिम्मत और धैर्य के साथ
पहाड़ की चोटी की ओर बढ़ रहा है

उसने अपना सर
एक पल के लिए नीचे नहीं झुकाया
यहां तक कि एक बार भी
तराई की ओर अपनी नज़र नहीं दौड़ाई

थोड़ी देर के लिए मैं रुका हूं
सूरज ढलान की ओर मुड़ रहा है
शाम के साए
बस्ती पर छाने के संकेत दे रहे हैं
आकाश बादलों से खाली पड़ा है

रात गहरा रही है कि
अचानक वो ज़ईफ़
तराई के इस कोने स्थित
मेरे घर की दहलीज़ पर
खड़ा दिखाई देता है

उसके हाथों में
पहाड़ की चोटी पर खिलनेवाले
ताजा फूलों का एक गुच्छा है

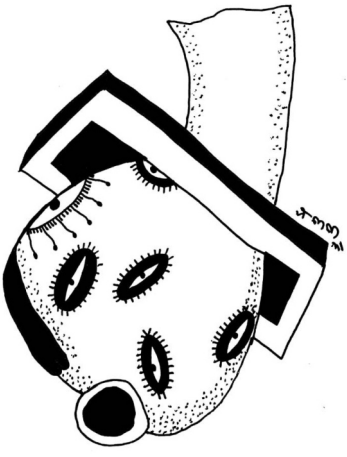

जनवरी-मार्च 2020

दोआबा

समय से संगत

दोआबा

समय से संगत

जनवरी-मार्च 2020
वर्ष 14 : अंक 32

आभार : लीलाधर मंडलोई, अनुप्रिया, शहंशाह आलम

सौजन्य : पवन कुमार
सहयोग : जावेद एक़बाल, मो.-8409044236
सुनील हेम्ब्रम, विक्रम मरांडी, अनिल कुमार

संपर्क
247 एम आई जी
लोहियानगर, पटना - 800 020
फ़ोन - 0612 2354077
सेल - 09431602575
e-mail : doabapatna@gmail.com

सर्वाधिकार सुरक्षित

पाकीज़ा ऑफसेट
शाहगंज, पटना-800006

मूल्य : 75 रुपये (डाक खर्च अतिरिक्त)

रचनाओं में अभिव्यक्त विचार रचनाकारों के अपने हैं।
संपादक का इन विचारों से सहमत होना ज़रूरी नहीं।

***संपादक* : जाबिर हुसेन**

जनवरी-मार्च 2020

दोआबा

समय से संगत

अनुक्रम

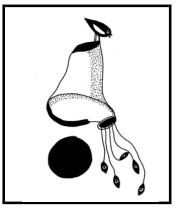

अपनी बात / 04

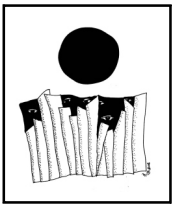

कथा समय

मीरा कांत / 8

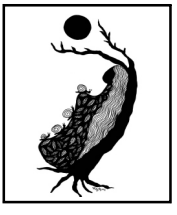

संस्मरण

रुचि भल्ला / 52
निर्देश निधि / 59

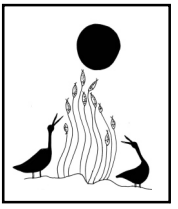

कविता

राजी सेठ / 66
शुक्ला चौधुरी / 68
पल्लवी मुखर्जी / 71
लाल्टू / 81
मालिनी गौतम / 83
छवि निगम / 88
राजेन्द्र उपाध्याय / 91
नीरज नीर / 94
देवेश पथ सारिया / 96

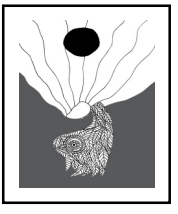

संवाद

रमेश दवे / 102
नीलम नील / 107
अनिता रश्मि / 108
कुलदीप शर्मा / 109
गोपाल माथुर / 114
मुस्तफ़ा खान / 117
सुबूही हुसेन / 118
शहंशाह आलम / 119
किरण अग्रवाल / 120
सोशल मीडिया से / 121

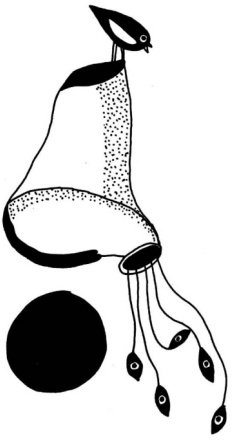

जाबिर हुसेन

मान्यताओं के डीह

आस्थाओं के वर्तमान कोलाहल में वैचारिक मान्यताओं का जिक्र करना एक प्रकार से निरर्थक व्यायाम प्रतीत होता है। इसके बावजूद, मैं आज मान्यताओं के कुछ पहलुओं की चर्चा करना चाहता हूं।

हम अपनी मान्यताओं पर खरा उतरना चाहते हैं, लेकिन व्यवहार में उतर नहीं पाते। कुछ रुकावटें हैं जो हमारे रास्ते में पता नहीं किधर से आकर खड़ी हो जाती हैं। हम इन रुकावटों की पैदा की हुई धुंध में उलझ कर रह जाते हैं, और हमारी मान्यताएं पीछे छूट जाती हैं।

कालांतर में ये मान्यताएं अपनी राह बदल लेती हैं। वो किसी नई डगर से अपना नाता जोड़ लेती हैं। फिर एक समय ऐसा आता है, जब हमारी अपनी मान्यताएं ही हमारा साथ छोड़ देती हैं। और हम किन्हीं बेमेल, बल्कि विपरीत दिशा में चलनेवाली मान्यताओं से वैचारिक समझौते कर लेते हैं। इस प्रक्रिया से गुज़रते हुए, कभी-कभी, हमें खुद हमारा चेहरा भी पहचान में नहीं आता।

यहां मैं सिर्फ वैचारिक मान्यताओं की बात नहीं कर रहा। हमारे जीवन से जुड़े कई आयाम इस बदलाव की चपेट में आ जाते हैं। मान्यताएं तो साथ छोड़ती ही हैं, धीरे-धीरे उनकी स्मृतियां भी धूमिल होने लगती हैं। मन में कई प्रकार के संशय पैदा होते हैं। क्या हमने इन मान्यताओं को दिल से स्वीकारा भी था या नहीं।

मेरे एक वरिष्ठ राजनीतिक मित्र अक्सर कहा करते थे कि हम जिसे अपनी मान्यता समझकर चलते हैं, वो दरअसल हमारी मान्यता होती ही नहीं। वो तो हमारे सामाजिक संपर्कों और संगति का प्रभाव मात्र होती है। उनका यह भी कहना था कि हमारे सामाजिक संपर्क गतिशील होते हैं। समय के साथ उनके विचार-स्तंभ बदलते रहते हैं। हमारी संगति भी नदी की लहरों की तरह अपनी दिशा बदलती रहती है। कभी-कभी, वह हमारे विचारों और मान्यताओं में बुनियादी परिवर्तन भी कर देती है।

ऐसे में, क्या हमें अपनी मान्यताओं की मूल संरचना में किसी परिस्थितिजन्य बदलाव को लेकर चिंतित होने की जरूरत नहीं है?

किसी राज्य की सामाजिक वैचारिकी का मूल आधार आख़िर क्या होता है? क्या उसके नियामकों द्वारा समय-समय पर स्वीकृत या अस्वीकृत की गई मान्यता? मान्यता, जो कभी रूढ़ या जड़बद्ध नहीं होतीं। उसमें लाभ-हानि तथा सत्ता के दबाव से संचालित होने वाली ताकतों का प्रभाव इतना प्रबल होता है कि मान्यताएं अपना अस्तित्व ही खो देती हैं।

मान्यताएं, कभी-कभी, आपस में टकराती भी हैं। ख़ासकर जब वो धर्म और आस्था या संस्कृति की द्वन्द्वात्मक परिभाषाओं में उलझ जाती हैं। उनका विचार-पक्ष परिभाषा की परिधि से इकबारगी छिटक कर बाहर हो जाता है। मान्यताओं में यथार्थ का स्वरूप बदलने, इसे खंडित कर देने की ताक़त होती है। जैसे कि वो सत्ता के क़रीब आकर अपना वास्तविक लक्ष्य भी नकार देती हैं। यह मान्यताओं के अस्त होने का अंतिम संकेत होता है।

हाशिए पर पड़े आम जन के लिए मान्यताओं का कोई अर्थ नहीं होता। वो समाज को भ्रमित करने का माध्यम होती हैं। जैसे न्याय और समता का सिद्धांत, जिसे कुछ लोग अपनी वैचारिक मान्यता का नाम देते हैं। अब ऐसी कमज़ोर वैचारिक मान्यता को ओढ़े रखने का क्या लाभ!

मान्यताएं अगर कर्म और मर्म से न जुड़ें तो बंजर ज़मीन पर गिरे बीज की तरह हैं।

इस अंक में विशेष

इस अंक के शुरुआती पन्नों पर आपको जो खण्ड मिलेगा उसका उप-शीर्षक है 'कविता की दो पीढ़ी'। इस खण्ड में आप छत्तीसगढ़ की दो कवयित्रियों की रचनाएं पढ़ेंगे। एक हैं शुक्ला चौधुरी (जन्म 6 जनवरी, 1951), दूसरी हैं उनकी बेटी पल्लवी मुखर्जी (जन्म 26 नवम्बर, 1967)।

ऐसा कम देखने को मिलता है कि कविता की दो पीढ़ी भाव, शैली और संवेदना के स्तर पर आप के मन में एक जैसा प्रभाव छोड़े। एक जैसे बिम्ब, प्रतीक और पहचान का सृजन